वैदिक जीवन-दर्शन

[मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है स्वयंका कल्याण करना। जीवका यथार्थ कल्याण है जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना अथवा भगवत्प्राप्ति। इसके लिये जीवनका प्रत्येक क्षण परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इनके आराधनमें परिणत होना चाहिये। यह वेद-निर्दिष्ट मार्गके द्वारा जीवनयापन करनेसे ही सम्भव है। जन्मसे मृत्युपर्यन्त तथा प्रातः जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्तके सम्पूर्ण कर्तव्योंका निर्देश वेदोंमें उपलब्ध है। अतः यहाँ अनुकरणीय वैदिक जीवनचर्याके कुछ प्रेरक अंश प्रस्तुत हैं। जिनका अनुपालन परम अभ्युदय-प्राप्तिमें सहायक हो सकेगा।—सं०]

वैदिक संहिताओंमें मानव-जीवनका प्रशस्त आदर्श

मानवोंका कौटुम्बिक आदर्श

माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदिके समुदायका नाम कटुम्ब है। उसके साथ सर्वतः प्रथम हम सब मानवोंका कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये, इसके लिये वेदभगवान् उपदेश देते हैं—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।

(अथर्व० १। ३१। ४)

—इसका तात्पर्य यह है कि अपने-अपने माता-पिताके प्रति हम सब मानवोंका स्वस्तिमय सद्भाव एवं प्रशस्त आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव संतुष्ट तथा प्रसन्न बने रहें और हमें शुभाशीर्वाद देते रहें अर्थात् वृद्ध माता-पिताकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये। श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है। कदापि कहीं भी प्रमादवश या उच्छृंखलतावश उनके साथ कष्टजनक अनिष्ट एवं अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिये। वेदभगवान्‌के इन सदुपदेशमय शब्दोंके द्वारा ऐसी शुभ भावना सदैव स्मृतिमें रखनी चाहिये—

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्रे अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥

(शु० य० १९। ११)

'जब मैं छोटा-सा सर्वथा असमर्थ शिशु था, उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमें लेटकर प्रमुदित होकर जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोंके आघातद्वारा उसे पीड़ित करता रहा, अब मैं उसके लालन-पालनादिके द्वारा बड़ा हो गया हूँ और वे मेरे पूजनीय जनक एवं जननी वृद्ध तथा अशक्त हो गये हैं। अतः मेरे द्वारा मेरे वे वन्दनीय माता-पिता कदापि किसी भी प्रकारसे पीड़ित (व्यथित) न हों, प्रत्युत मेरी प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदा संतुष्ट ही बने रहें, इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सेवा एवं प्रसन्नताद्वारा आनृण्य (ऋण-भार-निवारण) सम्पादन कर रहा हूँ।'

अतएव अतिधन्य वेदभगवान् परिवारके सभी सदस्योंके प्रति ऐसा उपदेश देते हैं कि—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३। ३०। २-३)

'पुत्र पिताके अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करे। माताके साथ भी अच्छे मनवाला बना रहे, खराब मनवाला नहीं अर्थात् पिता-माता दोनोंके प्रति सदा प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। इस प्रकार उपलक्षण-न्यायसे पुत्री भी माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करे और भार्या—पत्नी भी अपने स्वामी—पतिके प्रति मधुर—आह्लादक, सुखमयी वाणी ही बोले अर्थात् द्वेष एवं कुभावपूर्वक क्षोभप्रद कटु वाणी कदापि न बोले। इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी—भार्याके प्रति भी वैसी ही अच्छी वाणी बोले, खराब नहीं। भाई भाईके प्रति भी दायभागादि-निमित्तसे विद्वेष न करे, अपितु श्रीराम एवं भरतकी भाँति परस्पर प्रेमसे अपना स्वार्थत्याग करनेके लिये उद्यत रहे तथा बहिनके प्रति बहिन भी द्वेष न करे बल्कि सदैव प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। उपलक्षण-न्यायसे भाई एवं बहिन भी परस्पर द्वेष न करें। इस प्रकार परिवारके सभी सदस्य सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अच्छे मनवाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखेते हुए सुख-सम्पादक भद्रवाणी ही बोलते रहें।'

इसलिये वेदभगवान् पुनः विशेषरूपसे दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक

यही उपदेश देते हैं कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३। ३०। १)

'मैं (वेदभगवान्) सदुपदेशके द्वारा कुटुम्बके छोटे-बड़े—तुम सब सदस्योंका हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ। समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है। जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्योंका भी अनिष्ट न कभी चाहता है, न कभी करता है, प्रत्युत इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है। इस प्रकार मैं तुम्हें सांमनस्यका उपदेश देता हूँ अर्थात् तुम सब अपने मनको अच्छे संस्कारोंसे, अच्छे विचारोंसे, अच्छे संकल्पोंसे एवं पवित्र भावनाओंसे सदा भरपूर रखो, वैमनस्यका निवारण करते हुए ऐसा सांमनस्य सदा धारण करते रहो। मैं सहृदय एवं सांमनस्यके द्वारा विद्वेषाभावसे उपलक्षित प्रेम, सद्भाव, सरलता, सुशीलता, विनय, विवेक आदि गुणोंसे युक्त शरीरादिके सभी व्यवहारोंका तुम्हें कर्तव्यरूपसे बोधन कर रहा हूँ। जैसे गाय अपने सद्योजात अभिनव वत्सके प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे ही तुम सब परस्पर विशुद्ध स्नेह रखो और निष्कपट, विनम्र—सरल स्वभाव बनाये रहो।'

इस प्रकार वेदभगवान् हम मानवोंके गृहोंमें पूर्वोक्त सद्गुणोंके विकासद्वारा स्वर्गीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये ऐसा उपदेश देकर हमारे लिये कौटुम्बिक आदर्श प्रदर्शित कर रहे हैं।

सुमति-लाभकी प्रार्थना

मानवोंमें रहा हुआ स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म ही मानवता कहा जाता है, इसीका दूसरा नाम सुमति है। यह सुमति ही मानवको सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियोंके सदा प्रफुल्लित-सुगन्धित-रमणीय-स्वादु-फलाढ्य आनन्दरूपी भवनमें स्थापित कर धन्य बना देती है और जिसमें कुमति बनी रहती है, वह मानव मानव ही नहीं रहता, अपितु पूरा दानव बन जाता है तथा विविध विपत्तियोंके कुत्सित गर्तमें पड़कर दुःखी ही बना रहता है।

यह सुमतिकी प्रार्थना प्राचीनतम वैदिक कालसे ही चली आ रही है। अतएव हमारे अतिधन्य वेदोंमें भी सुमति-लाभकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।

(ऋक्० १। १५६। ३)

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।

(ऋक्० १। २४। ९)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।

(ऋक्० १। ८९। २; शु० य० २५। १५)

'हे विष्णो! तुझ महान् परमात्माकी सर्वजन-सुखकर-हितकर सुमतिका हम सेवन करते हैं। सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देता है कि—'हे शिष्य! तुझे उर्वी यानी उदार—विशाल सद्भाववाली एवं गम्भीर सुमति प्राप्त हो।' 'हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य—स्व-परहितकर सरल स्वभावका सम्पादन करना चाहते हैं; अतः हमें इन महान् देवोंकी कल्याणकारिणी भद्रा-सुमतिका लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हमें सुमतिका दान दें।'

भद्रा-सुमतिके द्वारा अभिनव-सर्जित मानव-जीवन अतीत प्रशस्त—भद्रमय हो जाता है, इसलिये ऋग्वेदसंहिताके **'देवानां भद्रा सुमतिः'** इस मन्त्रपर अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृतिका संस्कृत-व्याख्यान किया गया है जिसका भाव इस प्रकार है—

'देवोंके अनुग्रहसे प्राप्त भद्रा-सुमतिके प्रभावसे हम सब मानव सदा सत्यका ही परिशीलन (सेवन) करें, सर्वदा सम-शान्त-प्रसन्न प्रेम एवं कृपारूपी अमृतमयी दृष्टिकी पावन वृष्टिसे हम समस्त विश्वका परिसिञ्चन करते रहें, प्राणप्रिया सुन्दरीके समान विश्वहितेच्छुता हृदयमें सदा धारण करें; मन, वाणी एवं क्रियामें समभाव रखनेकी प्रीतिका हम वरण करें। सर्वजनके हितकर सत्कार्योंमें अपने मन, वाणी एवं शरीरके कर्मोंकी प्रवृत्तियोंको लगाते रहें। हम विपत्तियोंमें व्याकुलताका एवं सम्पत्तियोंमें उच्छृंखलताका अवलम्बन न करें। अन्योंके सुख-दुःख भी अपने सुख-दुःखके समान ही इष्टानिष्ट हैं—अर्थात् जैसे हम अपने लिये सुख ही चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते, वैसे ही हमें दूसरोंके लिये भी सुखकी कामना रखनी चाहिये, दुःखकी नहीं। इस प्रकारके समभावका सम्पादन करनेका आग्रहशाली स्वभाव हम अङ्गीकार करें, कभी भी उद्वेग करनेवाले वचनका उच्चारण न करें, अन्यायसे परधनका हरण न करें, कुत्सित दृष्टिसे परायी स्त्रियोंको न देखें। पुरुष-मानव एकपत्नीव्रतका एवं पत्नी-मानव पातिव्रत्यका पालन करें। ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, संध्योपासना-मन्त्रजपादि

नित्यकर्म पथ्यभोजन, व्यायाम, स्वाध्याय, सत्संग एवं दानादिका प्रतिदिन अनुष्ठान करते रहें। अपनी सज्जनतासे प्रादुर्भूत यशका उपार्जन करें। परमेश्वरकी भक्तिरूपी सर्वथा सुन्दरतम कल्पवृक्षकी शान्त-सुखप्रद छायाका हम एक क्षणके लिये भी परित्याग न करें। ब्रह्मचर्य, अभय, पराक्रम, अहिंसा आदि देवगुणोंको धारण करें। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-पूर्ण-अद्वय-अनन्त-आनन्दनिधिरूप आत्माका निरन्तर हम अनुसंधान बनाये रहें।'

जैसे तपस्विनी वृद्धकुमारीके प्रति इन्द्र देवताने कहा कि 'तु मुझसे वरदान माँग।' इसपर उसने ऐसा वर माँगा कि 'मेरे पुत्र काँसीके पात्रमें बहुक्षीर एवं बहुघृतसे युक्त भात खायें' और इस प्रकार एक ही वाक्यसे उसने पति, पुत्र, गायें, चावल आदि सबका संग्रह कर लिया। वैसे ही यहाँ भी सुमतिके ग्रहणसे सभी सद्भाव-सदाचारादि शुभ गुण संगृहीत हो जाते हैं। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अर्थात् सुमति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियोंकी जननी है और कुमति विविध दुर्गुणरूपी विपत्तियोंकी।

स्व-पर-मित्रता-लाभकी प्रार्थना

शुक्लयजुर्वेदसंहितामें सर्वभूतसुहृद् भगवान्‌से मानव इस प्रकार स्व-पर-मित्रता-लाभके लिये प्रार्थना करते हैं—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(शु० य० ३६। १८)

'हे दृते! अर्थात् सर्वजनोंके द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय अनन्तानन्दनिधे भगवन्! या निखिलशोक-संताप-विदारक परमात्मन्! तू मेरे दुर्गुणादिका निवारण करके मुझे मैत्र्यादि सद्भावनासे युक्त बना! मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, शत्रुकी दृष्टिसे नहीं—ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं सबको मित्रकी सुखकर-हितकर प्रिय दृष्टिसे देखता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब मानव मित्रकी दृष्टिसे ही एक-दूसरेको देखते हैं, यह हम सबकी समष्टि-प्रतिज्ञा है अर्थात् मैं समस्त मानवादि प्राणिवर्गको आत्मवत् प्रिय मानूँ—केवल प्रिय ही नहीं, किंतु उनका हितकर-सुखकर भी बना रहूँ और वे भी मुझे प्रिय मानें, मेरे प्रति हितकर-सुखकर ही बने रहें।'

अथर्वसंहितामें भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

(अथर्व० १९। १५। ६)

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।

(अथर्व० १९। १४। १)

मा नो द्विक्षत कश्चन।

(अथर्व० १२। १। १८)

अर्थात् समस्त दिशाओंमें अवस्थित निखिल मानवादि प्राणी मेरे मित्र—हितकारी ही बने रहें और मैं भी उन सबका हितकर मित्र ही बना रहूँ। समस्त प्रदेशोंमें अवस्थित जन मेरे प्रति संताप एवं उपद्रवके बीजभूत शत्रुभावसे रहित हों। तुम्हारे या अन्य किसीके प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखते हैं, इसलिये हमें परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी मानव हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखे। इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखनेसे ही मानव सच्चा मानव बनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्यका निर्माण कर सकता है।

मधुरतापूर्ण समग्र जीवनकी प्रार्थना

कैसे जीना और कैसे मरना? ये दो प्रश्न समस्त मानवोंके प्रति प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं। जैसा जीवन वैसा मरण—यह सामान्य नियम है। जिसका जीवन मधुर है, उसका मरण भी मधुर ही रहता है। जिसका जीवन कटु है, उसका मरण भी कटु ही बन जाता है। जो अपने जीवनको सुधारता है, उसका मरण भी स्वतः सुधर जाता है; जिसका वर्तमान अच्छा है, उसका भविष्य भी अच्छा ही रहता है। अतः स्वतःप्रमाण वेदभगवान् प्रथम हमें अपने इस वर्तमान जीवनको मधुरतापूर्ण ही बनानेके लिये हमारी प्रार्थनाद्वारा इस प्रकार आदेश देते हैं—

ॐ मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

(अथर्व० १। ३४। ३)

'निक्रमण यानी मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मधुरतापूर्ण—सर्वत्र सदा प्रसन्नता-सम्पादक ही बनी रहें और परायण यानी मेरी निखिल निवृत्तियाँ भी मधुरतासे युक्त ही होनी चाहिये (जैसे अनीतिपूर्वक परद्रव्य-ग्रहणसे निवृत्ति—जो संतोषरूपा है तथा उच्छृंखल विषय-लालसाकी निवृत्ति—जो संयमरूपा है—इत्यादि निवृत्तियाँ यहाँ समझनी चाहिये)। जिह्वाके द्वारा मैं मधुर ही बोलता हूँ और मैं बाहर-भीतर

सबमें पूर्ण सन्मात्र-चिन्मात्र-परमानन्दरूप मधुब्रह्मका ही सतत दर्शन करता रहता हूँ (इस प्रकार मेरा समग्र जीवन मधुमय बन जाय तो मेरी मृत्यु न रहकर मधुमय—अमृतमय ही बन जायगी और मैं मानवताके उच्चतम आदर्शके दिव्यतम शिखरपर आरूढ़ होकर धन्य एवं कृतार्थ बन जाऊँगा)।'

पापिनी लक्ष्मीके निवारणकी एवं भद्रा—पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभकी प्रार्थना

अन्यायोपार्जिता एवं अनीतिपूर्वक संगृहीता लक्ष्मी पापिनी लक्ष्मी मानी जाती है। ऐसी दोषपूर्ण लक्ष्मी मानवसमाजमें संघर्ष पैदा कर देती है; जो मानवके लिये दुर्गतिकारिणी होती है और जो लक्ष्मी नीति, धर्म एवं परिश्रमसे उपार्जित है, जिसके लिये किसीके प्रति अत्याचार नहीं किया गया, वह लक्ष्मी पुण्यमयी भद्रा लक्ष्मी है। वह शिष्ट प्रशंसा, यश, पुण्य एवं ईश्वर-कृपालाभद्वारा मनुष्यको सद्गति प्रदान करती है। इसलिये अथर्वसंहितामें ऐसी प्रार्थना की गयी है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

(अथर्व० ७। ११५। २)

'जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है—जिसका लोभ मानवको धर्म एवं नीतिसे भ्रष्ट कर देता है, शिष्ट मानव जिसका सेवन नहीं करते एवं जिसमें प्रीति नहीं रखते, वस्तुतः ऐसी लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं है, अपितु अलक्ष्मी है। जिस प्रकार वन्दना नामकी लता हरे-भरे वृक्षका शोषण करती है, उसी प्रकार वह मेरा भी शोषण करती है। इसलिये हे सविता देव! उस दोषपूर्ण लक्ष्मीको मेरे समीप मत रहने दें, मत आने दें, उसे अन्यत्र ही रहने दें। सुवर्णके समान ज्योतिर्मय हस्तवाले सवितादेव मुझे धर्म, नीति एवं श्रमद्वारा प्राप्त होनेवाला प्रशस्त धन देकर मुझपर अनुग्रह करें।'

इस प्रकार अथर्ववेदके अन्य मन्त्र भी पापमयी लक्ष्मीके निवारणका एवं पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभका उपदेश दे रहे हैं। जैसे—

शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ।

(अथर्व० ७। ११५। ३)

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

(अथर्व० ७। ११५। ४)

प्र पतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।

(अथर्व० ७। ११५। १)

अर्थात् हे सर्वज्ञ परमेश्वर! हमें कल्याणकारिणी—पुण्यमयी ही लक्ष्मी देना। पवित्र लक्ष्मी ही हमारे गृहोंमें रहकर हमें सुखी बनाये और जो पापिनी लक्ष्मी है, उसका नाश हो जाय। हे पापमयी धनरूपी लक्ष्मी! इस गृहसे तू चली जा—अदृष्ट हो जा एवं अति दूरस्थलसे भी तू भाग जा।

दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंके निवारणद्वारा ही मानवताका विकास

मानव जबतक दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंका निवारण नहीं करता, तबतक उसमें अवस्थित सुप्त मानवताका विकास नहीं होता; इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंमें इन कल्मषोंके निवारणके लिये एवं अपनी रक्षाके लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे पुनः-पुनः प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥

(ऋक्० २। ३३। ३)

अर्थात् हे रुद्र—दुःखद्रावक भगवन्! उत्पन्न हुए समग्र विश्वके मध्यमें अपरिमित ऐश्वर्यसे तू ही एकमात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध शक्तियोंके द्वारा बढ़े हुए देवोंके मध्यमें एकमात्र तू ही अतिशय बढ़ा हुआ महादेव है। वे—आप भगवान् हम सभी मानवोंको दुश्चरितरूप पापसे, जो पशुता एवं दानवताका विकासक है—अनायास ही पार कर दें, उस पापके दुःसङ्ग-दुर्भावना आदि सभी कारणोंसे भी हमें पृथक् कर दें।

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥

(ऋक्० १०। १६४। ३)

'जागते हुए या सोते हुए अर्थात् जानते हुए या नहीं जानते हुए हमने झूठी आशासे या कामादि दोषोंसे अथवा बुरे संस्कारोंसे एवं दुष्ट संगतिसे जो-जो दुश्चरितरूप पाप किये हैं या करते हैं, अग्नि भगवान् शिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषोंके द्वारा असेवित उन सभी पापमय दुष्कृतोंको हम सब मानवोंसे अलग करके दूर भगा दें।'

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

(ऋक्० १०। १३७। १, अथर्व० ४। १३। ९)

'हे देवो! आप सब मुझ मानवको अच्छे पुण्यमय सच्चरितरूप मार्गमें जानेके लिये ही सावधान करें, प्रेरित करें तथा हे देवो! विषयासक्तिरूप प्रमादसे मुझ मानवको अलग करके समुन्नत बनायें, पुनः हे देवो! पाप—अपराध किये हुए या करते हुए मुझ मानवको आप सब पुनः उससे

बचायें—रक्षा करें तथा हे देवो! मुझे शोभन, पवित्र, शान्तिमय, आनन्दमय, जीवनसे युक्त करें।' यहाँ यह समझना चाहिये कि एक ही भगवान्‌की अनेकविध शक्तियों एवं दिव्य विभूतियोंका नाम ही देवगण है। इसलिये यह देवोंकी प्रार्थना भी वस्तुतः भगवत्प्रार्थना ही है।

श्रमोंकी पराकाष्ठारूप कृषिके लिये उपदेश

मानव जब श्रमसे मुख मोड़ता है और नितान्त सुविधाप्रिय, विलासी एवं आलसी बन जाता है तथा परिश्रमके बिना मुफ्तमें ही धन-धान्यादि-प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है, तब उसमें मानवता-विरोधी दानवताके पोषक दुर्गुणोंकी भरमार हो जाती है। श्रमद्वारा पसीना बहाकर कुटुम्ब-निर्वाहके लिये जिससे धन-धान्यादि प्राप्त किया जाता है, वही कृष्यादि उत्कृष्ट साधन हृदयका शोधक एवं मानवताका विकासक बन जाता है। प्रसिद्ध अनेकविध श्रमोंमेंसे एकमात्र कृषि ही श्रमोंकी पराकाष्ठारूप मानी गयी है, अतएव उत्तमताका विरुद (टाइटल) उसे ही दिया गया है। इस समय भारतमें—जहाँ बेकारी एवं दरिद्रता नग्नरूपसे नाच रही है और जनसंख्या भी अनियन्त्रितरूपसे बढ़ रही है, वहाँ विशेषरूपसे उत्पादक कृषकवर्गकी समुन्नतिकी खास आवश्यकता है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदभगवान् भी मानवोंके प्रति कृषिके लिये इस प्रकार उपदेश देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'हे कितव! तू पाशोंसे जुआ मत खेल। जीवन-निर्वाहके लिये तू कृषि कर अर्थात् परिश्रमी बन। नीतिके मार्गसे कमाये हुए धनको बहुत मानता हुआ तू उसमें ही रमण कर अर्थात् संतोष रखकर प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप कृषिमें ही गौ आदि पशु भी सुरक्षित रहते हैं एवं उसमें ही स्त्री आदि कुटुम्बीजन भी प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषिके प्रति इन विश्वस्वामी सवितादेवने मानवोंको उपदेश देनेके लिये कहा है।'

इस प्रकार अन्य अनेक वेदमन्त्र भी कृषिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं—

सुसस्याः कृषीस्कृधि।

(शुक्लयजु० ४। १०)

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

(शुक्लयजु० ९। २२)

नो राजा नि कृषिं तनोतु।

(अथर्व० ३। १२। ४)

ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति।

(अथर्व० ८। १०। १२)

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना।

(अथर्व० १२। १। १३)

'हे मानव! तू चावल, गेहूँ आदि अच्छे धान्यवाली कृषि कर। कृषिके लिये, तल्लभ्य निर्वाहके लिये, धनके लिये एवं परिवारादिके पोषणके लिये मैं परमेश्वर तुझ मानवको नियुक्त करता हूँ। हमारे राजा या नेता कृषिका अच्छी प्रकारसे विकास एवं विस्तार करते रहें। वे सब मानव कृषि एवं धान्यका ही उपजीवन करते हैं। शोभन कृषिके द्वारा अभिवर्धित एवं सुशोभित हुई भूमि माता हमें सभी प्रकारसे समुन्नत एवं सुखी बनाये।'

अभ्युदय-प्रयोजक संघट्टनादिका उपदेश

समस्त अभ्युदयोंका प्रयोजक है समाजमें एवं राष्ट्रमें परस्पर संघट्टन, संवदन, सद्भाव तथा अपने ही न्यायोचित भाग (हिस्से)-में एकमात्र संतोष रखना, दूसरोंके भागोंको लेनेकी इच्छातक भी नहीं करना—यही मानवताका विकास—आदर्श चरित्र है। इसका निखिल वसुधानिवासी मानवोंके हितके लिये जगद्गुरु वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋक्० १०। १९१। २)

आप सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित—संघटित बनें। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य—हित-प्रिय वाक्योंको ही बोलें तथा आप सबके मन, सुख-दुःखादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादिदेव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करें, अन्यके भागको अन्यायसे ग्रहण मत करें।

अथर्ववेद भी हमें इस प्रकारके संघट्टनका उपदेश देता है—

मा वि यौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत।

(अथर्व० ३। ३०। ५)

एक-दूसरेसे प्रेमपूर्वक सत्य, प्रिय एवं हितकर

भाषण करते हुए तुम सब मानव आगे बढ़ो, अलग-अलग मत होओ, परस्पर विरोध मत करो, प्रत्युत सम्मिलित होकर शान्तिसे रहो।

समभावका सदुपदेश

विषमभाव अशान्ति एवं दुःखका प्रयोजक है तथा समभाव शान्ति और आनन्दका आविर्भावक है। इसका प्रत्यक्षानुभव मानवोंको अपने लौकिक व्यवहारोंमें भी होता रहता है। परमार्थ—कल्याणमार्गमें तो विषमभावका त्याग नितान्त अपेक्षित है, इसके बिना समभावका लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः विषमभावका विषके समान परित्याग करके अमृतके समान समभावको धारण करनेके लिये वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋक्० १०। १९१। ४)

आप सब मानवोंकी आकूति अर्थात् संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार समान—समभाववाले, सरल—कापट्यादिदोषरहित; स्वच्छ रहें एवं आप सब मानवोंके हृदय भी समान—निर्द्वन्द्व, हर्ष-शोकरहित समभाववाले रहें तथा आप सब मानवोंका मन भी समान—सुशील, एक प्रकारके ही सद्भाववाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन (अच्छा) साहित्य (सहभाव)—धर्मार्थादिका समुच्चय सम्पादित हो, उस प्रकार आपके आकृति—हृदय एवं मन हों।

उपसंहार

इस प्रकार स्वतःप्रमाण अतिधन्य वेदोंकी संहिताओंमें मानवोंके प्रशस्त आदर्शोंका वर्णन बहुत ही प्रचुररूपमें किया गया है। अन्तमें ऋग्वेदसंहिताके निम्नाङ्कित दो प्रार्थनामन्त्रोंको उद्धृत करके इस लेखका हम उपसंहार करते हैं। मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्र्यशील) बनानेमें भगवत्प्रार्थना एक मुख्य प्रयोजक साधन माना गया है। जो मानव उन अपने अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास रखता है, उनके शरणापन्न बना रहता है, उनके इष्टानिष्ट सभी विधानोंमें जो संतुष्ट रहता है, सभी परिस्थितियोंमें उनकी पावन मधुर ध्रुवा स्मृति बनाये रखता है और विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके लिये हृदयके सद्भावोंके साथ उन सर्वसमर्थ प्रभुकी प्रार्थना करता रहता है, उस मानवमें पशुता एवं दानवताका ह्रास होकर मानवताका विकास हो जाता है। केवल मानवताका ही नहीं, किंतु उन करुणासागर भगवान्‌की अनुपम कृपासे उसमें क्रमशः देवत्व एवं महादेवत्वका विकास होकर उसका मानव-जीवन धन्य एवं चरितार्थ बन जाता है।

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये
वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये
स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥

(ऋक्० ५। ५१। १३)

'भगवत्स्वरूप समस्त देव इस समय हम सब मानवोंके स्वस्ति (कल्याण)-लाभके लिये अनुकूल हों। वैश्वानर वसु अग्निदेव भी हमारे मङ्गलके लिये प्रयत्नशील हों। ऋभु यानी स्वर्गनिवासी देव हमारे कल्याणके लिये हमारा रक्षण करें। रुद्रभगवान् भी हमारे कल्याणकी सिद्धिके लिये पशुता एवं दानवतारूप पापसे हम सब मानवोंकी रक्षा करें।'

शं नो देवः सविता त्रायमाणः
शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः
शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥

(ऋक्० ७। ३५। १०; अथर्व० १९। १०। १०)

'भय एवं संतापोंसे रक्षा करते हुए सवितादेव हम सबके शान्ति-सुखके लिये अनुकूल हों। सूर्यप्रकाशसे प्रथम अपना मधुर एवं शान्त प्रकाश फैलानेवाली एवं अन्धकारको भगा देनेवाली उषा देवियाँ हम सबके कल्याणके लिये प्रयत्नशील हों। पर्जन्य (मेघ) हमारी सब प्रजाके लिये सुखकारी हो। क्षेत्रके पति शम्भुभगवान् हम सबके सुख-शान्ति एवं कल्याण-हेतु प्रसन्न हों।'

हरिः ॐ तत्सत्, शिवोऽहं शिवःसर्वम्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।